Gyanshauryam, International Scientific Refereed Research Journal
© 2020 GISRRJ | Volume 3 | Issue 2 | ISSN : 2582-0095

आदिशंकराचार्य के उपनिषद्भाष्यों एवं गीता–भाष्य में भक्तितत्त्व

डॉ. जी. एल. पाटीदार
सहायक आचार्य
संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,उदयपुर

संगीता कुमारी
शोधार्थी
संस्कृत विभाग,
मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय,

शोध सारांश– भक्ति मानव जीवन की सर्वश्रेष्ठ संपदा है। साक्षात् ईश्वर के दर्शन करने–कराने का प्रमुख माध्यम भी भक्ति ही है। भक्तितत्त्व भौतिक जगत से जुड़े हुए हमारे अस्तित्व–बोध को आध्यात्मिक जगत की परम आनंदानुभूति से जोड़ने का मध्यम माध्यम है। मनुष्य के भीतर प्राणों का जो छंदमय स्पंदन है, वही मनुष्य को भक्ति की ओर आकर्षित करता है। हमारे मन में संपूर्ण जीव–जगत के प्रति जो ममत्व भाव उत्पन्न उद्भव होता रहता हैं, वहीं भाव हमें मनुष्य बनता हैं। विना भक्ति के मानवता जीवित नहीं रह सकती हैं। प्रस्तुत लघुशोध पत्र में आदिशंकराचार्य के मत में भक्तितत्त्व को परिभाषित करते हुए, वर्त्तमान उपादेयता और महत्ता की ओर ध्यान देते हुए, सार्वभौमिक सत्ता में जीव–जगत के रहस्य को समझने में भक्ति की उपयोगिता की ओर ध्यानाकर्षण किया गया है। भक्तियोग के विना मानव कभी भी मानव बन ही नहीं सकता हैं। भक्ति के बिना पुत्र पिता के लिए आदर्श नहीं बन सकता है न शिष्य गुरु के लिए और न जीव जगत के लिए। जीवन और अस्तित्त्व उन्हीं का सार्थक हैं जिन्होंने इस भक्तियोग को जीया–समझा हैं। सम्पूर्ण विश्व एक है मैं भी एक हूँ और हमारा ईश्वर भी एक है यह भाव केवल भक्तितत्त्व से ही समझा जा सकता है।

प्रमुख शब्द – धर्म, भक्ति, आत्मा, उपनिषद्, ब्रह्म, दर्शन, परमात्मा, जीव, कर्म, भाष्य, उपासना, ईश्वर, गीता, ज्ञान, इत्यादि।

भक्तितत्त्व– भक्ति शब्द की व्युपत्ति 'भज्' धातु में 'क्विन्' प्रत्यय लगाने से हुई है जिसका अर्थ होता है– 'ईश्वर के प्रति सेवा भाव या 'भजना' है, अर्थात् श्रद्धा और प्रेमपूर्वक इष्ट देवता के प्रति आसक्ति होना । शाण्डिल्य भक्ति–सूत्र में भी यही बात बताई गयी है कि 'सापरानुरक्तिरीश्वरे' अर्थात ईश्वर में अनुरक्ति ही भक्ति है। नारद भक्ति–सूत्र के अनुसार भक्ति ईश्वर के प्रति परम–प्रेमरूपा और अमृत स्वरूप है। सूरदास के गुरु वल्लभाचार्य ने भी भक्ति के विषय में अपना मत प्रकट किया है कि ईश्वर में सुदृढ़ और सनत स्नेह ही भक्ति है। वेद व्यास ने पूजा में अनुराग को भक्ति कहा है। गर्ग के अनुसार कथा श्रवण में अनुरक्ति ही भक्ति है। भारतीय धार्मिक साहित्य में भक्ति का उदय वैदिक काल से ही दिखाई पड़ता है। देवों के रूपदर्शन, उनकी स्तुति के गायन, उनके साहचर्य के लिए उत्सुकता, उनके प्रति समर्पण आदि में आनन्द का अनुभव–ये सभी उपादान वेदों में यत्र–तत्र दिखाई सुनाई पड़ते हैं। ऋग्वेद के विष्णुसूक्त और वरुणसूक्त में भक्ति के मूल तत्त्व प्रचुर मात्रा में विद्यमान हैं।

भक्ति के प्रकार– भागवत उपासनापद्धति का प्रथम उल्लेख ब्रह्मसूत्र के शांकर भाष्य में पाया जाता है। इसके अनुसार अभिगमन, उपादान, इज्या, स्वाध्याय और योग से उपासना करते हुए भक्त भगवान को प्राप्त करता है। 'ज्ञानामृतसार' में छः प्रकार की भक्ति बतलाई गई हैं–(1) स्मरण, (2) कीर्तन, (3) वन्दन, (4) पादसेवन, (5) अर्चन और (6) आत्मनिवेदन। भागवत पुराण में नवधा भक्ति का वर्णन है। उपर्युक्त छः में तीन–श्रवण, दास्य और सख्य और जोड़ दिये गये हैं। पांचरात्र संहिताओं के अनुसार सम्पूर्ण भागवत धर्म चार खण्डों में विभक्त हैः (1) ज्ञानपाद (दर्शन और धर्म विज्ञान), (2) योगपाद (योगसिद्धान्त और अभ्यास), (3) क्रियापाद (मन्दिर निर्माण और मूर्तिस्थापना), (4) चर्यापाद (धार्मिक क्रियाएँ)।

उपनिषद् सनातनहिन्दू धर्म के महत्वपूर्ण श्रुति धर्मग्रन्थ हैं। ये वैदिक वाङमय के अभिन्न हैं। इनमें परमेश्वर, परमात्मा, ब्रह्मा और आत्मा के स्वभाव और सम्बन्ध का बहुत ही दार्शनिक और ज्ञानपूर्वक वर्णन दिया गया है। गीता भाष्य में ज्ञान, भक्ति और कर्म तीनों की चर्चा है गीता उपनिषदों का सार है। उपनिषद् गौ के समान है और गीता दुग्ध के समान।

उपनिषदों में भक्ति की चर्चा इस प्रकार है– उपनिषदों में कहा गया है कि ब्रह्म की उपासना करना उचित है तथा ब्रह्म की कृपा होने पर उसको प्राप्त कर सकते हैं। 'केनोपनिषद्' में कहा है –

तद्वनमित्युपासितव्यम्।। [1]

तद् (ब्रह्म) वनम् (भजनीयम्) इतिहास उपासितव्यम्।

'भजनीय वस्तु होने के कारण ब्रह्म की उपासना करनी चाहिये' कठोपनिषद् में कहा गया है –

ऊर्ध्वं प्राणमुन्नयत्यपानं प्रत्यगस्यति।
मध्ये वामनमासीनं विश्वे देवा उपासते।।[2]

अर्थात् 'ब्रह्म प्राणवायु को ऊर्ध्व दिशा में प्रेरित करता है, अपा वायु को निम्न दिशा में प्रेरित करता है वह स्वयं भजनीय रूप में हृदय के भीतर अवस्थान करता है, उसकी सभी देवता उपासना करते हैं, कठोपनिषद् में भक्ति की चर्चा इस प्रकार हैं –

अणोरणीयान् महतो महीया–
नात्मास्य जन्तोर्निहितो गुहायाम्।
तमक्रतुः पश्यति वीतशोको
धातुः प्रसादान्महिमानमात्मनः।। [3]

'आत्मा अणु से भी अणु है, महान् से भी महान् है। यह प्राणी की हृदय–गुहा में अवस्थान करता हैं। निष्काम साधक ईश्वर की कृपा से उसका दर्शन करता है। उसका दर्शन करने पर साधक में सर्वज्ञता आदि महिमा का आविर्भाव होता है तथा वह शोक से उत्तीर्ण हो जाता है'

कठोपनिषद् में ऊँकार की ब्रह्म रूप में उपासना करने की बात कही गयी है यह भी प्रतीक उपासना ही है –

एतद्धयेवाक्षरं ब्रह्म एतद्वयेवाक्षरं परम्।
एतद्वयेवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत्।।[4]

छान्दोग्य उपनिषद् में प्रतीक उपासना का भी उल्लेख मिलता है–

मनो ब्रह्मेत्युपासीत्'[5]

'मन की ब्रह्म रूप में उपासना करे' जैसे, ब्रह्म को इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता, उसी प्रकार मन भी इन्द्रियों के द्वारा गृहीत नहीं होता। इसी सादृश्य के कारण मन की ब्रह्मरूप से उपासना करने की बात कही गयी है। शंकराचार्य के मत में 'एतद् हि एव अक्षरं ज्ञात्वा' इसका अर्थ प्रणव की ब्रह्मरूप में उपासना करना है। उपनिषदों में ईश्वर की सर्व–व्यापकता तथा अतीन्द्रियता को नहीं छोड़ा गया है। उपनिषदों में ऐसे कुछ अवतरण है, जिनका प्रसंग केवल ईश्वर की सर्व–व्यापकता से हैं।[6]

प्रभु–भक्ति सबसे उत्कृष्ट और सर्वोत्तम रस के बारे में छान्दोग्य–उपनिषद् में बताया गया है –

स एव रसानां रसतमः परमः परार्धे

अर्थात् यह वह रस है, जो अपने माधुये से मनरूपी चातक को मतवाला कर देता है। उपनिषद् भक्ति–रस से सराबोर है। जैसे शीत से आतुर मनुष्य का अग्नि के पास जाने से शीत निवृत्त हो जाता है, वैसे ही प्रभु की भक्ति करने से सब दोष–दुःख दूर होकर परमेश्वर के गुण–कर्म–स्वभाव के अनुसार जीवात्मा के गुण, कर्म और स्वभाव हो जाते हैं आचार्य शंकराचार्य ने कहा कि श्रुति के अनुरूप तर्क का अनुसंधान करना चाहिए – 'श्रुतिमतस्तर्कोऽनुसन्धी यताम्'। तर्क से सत्य तो नहीं मिलता, किन्तु सत्य की पुष्टि में तर्क खोजा अवश्य जा सकता हैं यही तर्क का सदुपयोग है। गीता इसी मार्ग का समर्थन करती है।

श्रीमद्भागवत भक्तिशास्त्र का अद्वितीय ग्रन्थ हैं, भक्ति प्राप्त पुरुष के लिये कोई भी साधन और साध्य अवशिष्ट नहीं रह जाता है। भक्तप्रिय श्री उद्धवजी के प्रति स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ने अपने ही श्रीमुख से कही है –

'भक्तिं लब्धवतः साधो किमन्यदवशिष्यते'।

हे साधो ! जिसको भक्ति की प्राप्ति हो गयी हैं, उसके लिये क्या अवशिष्ट रह जाता है साधन काल में भी भक्तियोग स्वतन्त्र होने के कारण भक्ति योगी के लिये अन्य साधनों की अपेक्षा नहीं होती, न उससे अधिक किसी साधन से लाभ ही मिलता है –

श्रीमद्भगवद्गीता में भक्ति को इस प्रकार उद्घृत किया गया है – भक्ति तो सगुण–साकार की ही होती है दूसरी ओर कुछ साधक श्रुति के नेति–नेति उल्लेख को आधार मानकर निर्गुण–निराकार की उपासना को ही श्रेष्ठ मानकर भक्ति करते हैं

एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरंव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।[7]

श्रीकृष्ण कारण बताते हुए निराकार–निर्गुण की उपासना की अपेक्षा साकार–सगुण की भक्ति को श्रेष्ठ घोषित करते हैं –

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते में युक्ततमा मताः।।[8]

अतएवं ज्ञानयोग, ध्यानयोव, अष्टाङयोग, कर्मयोग आदि जितने भी भगवत्प्राप्ति के साधन हैं, उन सब में भगवद्भक्ति सर्वोत्तम है, जो इस प्रकार –

योगिनामपि सर्वेषां मद्तेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमोः।।[9]
परित्राणय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।[10] **(गीता 4/8)।**

'श्रेष्ठ पुरुषों का उद्धार करने के लिये, पाप–कर्म करने वालों का विनाश करने के लिये और धर्म की अच्छी तरह से स्थापना करने के लिये मैं युग–युग में प्रकट हुआ करता हूँ। इसके बाद भगवान् ने अपने जन्म और कर्म की दिव्यता' जानने का महत्व बतलाया है। जन्म की दिव्यता यह कि भगवान् का जन्म अलौकिक है, मनुष्यों की भाँति जन्मते–मरते नहीं; अतः वास्तव में उनका जन्म–मरण नहीं होता केवल प्रादुर्भाव और तिरोभाव होता हैं। उनका विग्रह रोगशून्य, दोषरहित और चिन्मय होता हैं।[11]

जो भक्त भगवान् के शरण होकर उनको श्रद्धा–प्रेम से भजता है, वही उनको यथार्थ रूप से जानता है। वे अपनी इच्छा से प्रकृति को वंश में करके स्वयं अजन्मा और अविनाशी रहते हुए ही श्रेष्ठ पुरुषों के कल्याण और धर्म के प्रसार के लिये अपनी योगमाया से प्रकट होते हैं।[12]

गीता में भगवान ने अपनी भक्ति की महिमा के बारे में बताया

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तास्तथैव भजाम्यहम्।[13]

13 वे से 18 वें तक छः अध्यायों में ज्ञानयोग की प्रधानता बतलायी जाती है, उनमें भी कोई–सा भी अध्याय भक्तियोग के वर्णन में खाली नहीं हैं। उदाहरण के लिये तेरहवें अध्याय में ज्ञान के साधन बतलाते हुए कहा गया है–

मयि चानन्य योगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।[14]

'मुझ परमेश्वर में अनन्ययोग के द्वारा अव्यभिचारिणी भक्ति भी (ज्ञान का साधन) है।'

अठारहवे अध्याय में उसका तो भगवान् ने शरणागति में ही उपसंहार किया है। वहाँ कर्मयोग के प्रकरण में भी भक्ति का वर्णन है। भगवान् कहते हैं –

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिद् ततम्।
स्वकर्मणां तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।[15]

'जिस परमेश्वर से सम्पूर्ण प्राणियों की उत्पत्ति हुई है और जिससे यह समस्त जगत् व्याप्त है, उस परमेश्वर की अपने स्वाभाविक कर्मो द्वारा पूजा करके मनुष्य परम सिद्धि को प्राप्त हो जाता है तथा ज्ञानयोग के प्रकरण में भी भक्ति (उपासना) की आवश्यकता बतलायी है।

ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रित।।[16]

उपनिषदों में ईश्वर की सर्व–व्यापकता तथा अतीन्द्रियता का प्रसंग छोड़ा नहीं गया है। उपनिषदों में ऐसे कुछ अवतरण है जिनका प्रसंग केवल ईश्वर की सर्व–व्यापकता से है तथा कुछ का सम्बन्ध केवल अतीन्द्रियता से है तथा कुछ में सर्व–व्यापकता और अतीन्द्रियता का सम्मिलित प्रसंग है। श्वेताश्वतरोपनिषद् में बताया गया है कि ''ईश्वर को अग्नि, जल, अखिलविश्व, वनस्पति, वृक्ष सबमें व्याप्त मानना चाहिये''।

बृहदारण्यकोपनिषद् में इस प्रकार बताया गया कि किस प्रकार ईश्वरात्मा हममें नख–शिख व्याप्त है, जिस प्रकार एक छुरा पेटिका में बन्द होता है। अथवा जिस प्रकार पक्षी अपने नीड़ में होता है। छान्दोग्योपनिषद् की एक कथा भी ईश्वर के उस पक्ष को प्रकाश में लाती है। उसमें हमें बतलाया गया है कि किस प्रकार एक शिष्य से उसके गुरु ने रात को एक नमक का टुकड़ा पानी में डाल देने को कहा और प्रातः काल उसे अपने पास लाने को कहा[17]।

यदि वेश्वरनिर्वृत्तं कार्यं सुकृतमुच्यते।
निष्ठासंश्रवणात्साक्षान्न तु कर्तेश उच्यते।।[18]

अथवा ईश्वर से किया गया कार्य ही यहाँ सुकृत कहा गया है क्योंकि 'सुकृत' शब्द में निष्ठा अर्थात् 'क्त' प्रत्यय सुनाई देता है। इसलिए कर्ता ईश्वर 'सुकृत' शब्द का साक्षात् वाच्य नहीं है।

अप्रविष्टस्वभावस्य प्रवेशस्तेन कल्प्यते।
क्षेत्रज्ञेश्वरहानेन ह्यौकात्म्यं स्यात्कथं न्विति।।[19]

क्षेत्रज्ञ (जीव) और ईश्वर का भेद मिटकर कैसे अभेद सिद्ध हो इसलिये अप्रविष्ट स्वभाव ब्रह्म का भी प्रवेश कल्पित किया गया है।

रसो वै सः। रस ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति को ह्येवान्यात् कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति[20]

'वही रस (प्रेम) स्वरूप है। यह जीव रस–स्वरूप को प्राप्त करके सुखी होता है। यदि हदयाकाश में यह आनन्द–स्वरूप न होता तो कौन अपान ज्येष्टा करता, कौन प्राण–कार्य करता? अर्थात् कोई निश्वास–प्रश्वास द्वारा प्राण धारण नहीं कर सकता। एकमात्र यही जीव को आनन्द दान करता है।

भक्तिसाधना के आश्रय हैं प्रेमस्वरूप करूणामय भगवान् बृहदारण्यक– उपनिषद् में परमात्मा के सम्बन्ध में कहा गया है–

'एषास्य परमा गतिरेषास्य परमा सम्पद् एषोऽस्य परमो लोक एषोऽस्य परम आनन्दः'।

'ये ही परम गति, ये ही परम सम्पद्, ये ही परम धाम तथा ये ही परम आनन्द हैं, ब्रह्म सम्यक रूप से भजने योग्य है इस दृष्टि से उसकी उपासना करनी चाहिये कठोपनिषद् में कृपावाद का स्पष्ट उल्लेख मिलता है –

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो, न मेधया न बहुना श्रुतेन
यमेवैष वृणुते तेन लभ्य– स्तस्यैष आत्माविवृणुते तनूं स्वाम् [21]

'इस आत्मा को शास्त्र की व्याख्या के द्वारा नहीं प्राप्त कर सकते, मेधा के द्वारा भी नहीं, अनेक प्रकार के पाण्डित्य के द्वारा भी नहीं। यह जिसको वरण अर्थात् जिस पर कृपा करता है, केवल वही इसको प्राप्त कर सकता है। उसी के सामने यह आत्मा अपने स्वरूप को प्रकाशित करता है।

सख्य–भाव की उपासना का उल्लेख उपनिषद् में इस प्रकार किया गया है–

द्वा सुपर्णा, सयुजा सखाया, समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वस्य–नश्चनन्यो अभिचाकशीति।। [22]

एक वृक्ष पर दो पक्षी सखा के समान एकत्र रहते हैं। उनमें से एक पक्षी स्वादु फल (कर्मफल) खाता है। दूसरा पक्षी आहार नहीं करता केवल देखता रहता है।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्र हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।[23]

कर्मो की सिद्धि चाहने वाले अर्थात् फलप्राप्ति की कामना करने वाले मनुष्य इस लोक में इन्द्र, अग्नि आदि देवों की पूजा किया करते हैं।

श्रुति में कहा है कि 'जो अन्य देवता की इस भाव से उपासना करता है कि वह (देवता) दूसरा है और मैं (उपासक) दूसरा हूँ वह कुछ नहीं जानता, जैसे पशु होता है वैसे ही वह देवताओं का पशु

है। ऐसे उन भिन्न रूप से देवताओं का पूजन करने वाले फलेच्छुक मनुष्यों की इस मनुष्यलोक में (कर्म से उत्पन्न हुई) सिद्धि शीघ्र ही हो जाती हैं, क्योंकि मनुष्य लोक में शास्त्र का अधिकार है

'क्षिप्रं' हि मानुषे लोके' इस वाक्य में 'क्षिप्रं' विशेषण से भगवान् अन्य लोकों में भी कर्मफल की सिद्धि दिखलाते हैं। पर मनुष्य–लोक में वर्ण–आश्रम आदि के कर्मो का अधिकार है, यह विशेषता है। उन वर्णाश्रम आदि में अधिकार रखने वालों के कर्मो की कर्मजनित फलसिद्धि शीघ्र होती है।

ये तु धर्म्यामृतमिंद यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव में प्रियाः।।[24]

जो सन्यासी इस धर्ममय अमृतको अर्थात् जो धर्म से ओतप्रोत है और अमृतत्व का हेतु होने से अमृत भी है, ऐसे इस 'अद्वेष्टा सर्वभूतानाम्'' इत्यादि श्लोकों द्वारा ऊपर कहे हुए (उपदेश) का श्रद्धालु होकर सेवन करते हैं– उसका अनुष्ठान करते है, वे मेरे परायण अर्थात्' मैं अक्षरस्वरूप परमात्मा ही जिनकी निरतिशय गति हूँ' ऐसे, यथार्थ ज्ञानरूप उत्तम भक्ति का अवलम्बन करने वाले मेरे भक्त, मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।

'भक्तास्तेऽतीव मे प्रिय' इस वचन से उसका उपसंहार किया गया है। कहने का अभिप्राय यह है कि इस यथोक्त धर्मयुक्त अमृतरूप उपदेश का अनुष्ठान करने वाला मनुष्य मुझ साक्षात् परमेश्वरं विष्णुभगवान् का अत्यन्त प्रिय हो जाता है,

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काऽन्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान्यः स मे प्रियः।।[25]

जो इष्ट वस्तु की प्राप्ति में हर्ष नहीं मानता, अनिष्ट की प्राप्ति में द्वेष नहीं करता, प्रिय वस्तु का वियोग होने पर शोक नहीं करता और अप्राप्त वस्तु की आकाङ्.क्षा नहीं करता, ऐसा जो शुभ और अशुभ कर्मो का त्याग कर देने वाला भक्तिमान् पुरुष है वह मेरा प्यारा है।

तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि नचिरात्पार्थमय्यावेशितचेतसाम्।। [26]

हे पार्थ ! मुझ विश्वरूप परमेश्वर में ही जिनका चित्त समाहित है ऐसे केवल एक मुझ परमेश्वर की उपासना में ही लगे हुए उन भक्तों का मैं

तुल्य निन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान्मे प्रियो नरः।।

जिसके लिये निन्दा और स्तुति दोनों बराबर हो गयी है, जो मुनि संयतवाक् है अर्थात् वार्णी जिसके वश में है तथा जो जिस किसी प्रकार से भी शरीरस्थितिमात्र से सन्तुष्ट है।

कहा भी है कि 'जो जिस किसी (अन्य) मनुष्य द्वारा ही वस्त्रादि से ढका जाता है, एवं जिस किसी (दूसरे) के द्वारा ही जिसको भोजन कराया जाता है और जो जहाँ कहीं भी सोनेवाला होता है। उसको देवता लोग ब्राह्मण समझते है।

तथा जो स्थान से रहित है अर्थात् जिसका कोई नियत निवासस्थान नहीं है, अन्य स्मृतियों में भी 'अनागार'' इत्यादि वचनों से यही कहा है, तथा जो स्थिरबुद्धि है जिसकी परमार्थ विषयक बुद्धि स्थिर हो चुकी है, ऐसा भक्तिमान् पुरुष मेरा प्यारा है।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्ध्वं न संशयः।।[27]

तू मुझ विश्वरूप ईश्वर में ही अपने संकल्प विकल्पात्मक मन को स्थिर कर और मुझमें ही निश्चय करने वाली बुद्धि को स्थिर कर लगा। इसके पश्चात् अर्थात् शरीर का पतन होने के उपरान्त तू निःसन्देह एकात्मभाव से मुझ में ही निवास करेगा, इसमें कुछ भी संशय नहीं है अर्थात् इस विषय में संशय नहीं करना चाहिये।

संदर्भ ग्रंथ सूची–

1. केनोपनिषद् 4/6
2. केनोपनिषद् 2/2/3

3 केनोपनिषद् 1/2/20
4 केनोपनिषद् 1/2/16
5 छान्दोग्यपनिषद् 3/18/1
6 उपनिषद–दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, रामचन्द्र दत्ता त्रेय रानाड़े कृत (परतत्वशास्त्र) पृ. सं. 173
7 श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, अध्याय 12, श्लोक 1
8 श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, अध्याय 12, श्लोक 2
9 श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, अध्याय 6, श्लोक 47
10 गीता 4/8
11 श्रीमद्भगवद्गीता 4/6
12 श्रीमद्भगवद्गीता 4/8
13 श्रीमद्भगवद्गीता 4/11 पूर्वार्ध 'जो भक्त मुझे जिस प्रकार भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ'।
14 गीता 13/10
15 गीता 18/46
16 श्रीमद्भगवद्गीता 18/52 का उत्तरार्ध
17 उपनिषद्–दर्शन का रचनात्मक सर्वेक्षण, रामचन्द्र, दत्तात्रेय रानाडे कृत (परतत्वशास्त्र) पृ. सं. 173, 174
18 तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, श्रीसुरेश्वराचार्यकृत, पृ. सं. 115, 116
19 तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्यवार्तिक, श्रीसुरेश्वराचार्यकृत, पृ. सं. 112
20 तैत्तिरीयोपनिषद् 2/7/1
21 कठोपनिषद् 1/2/23
22 नश्चनन्यो अभिचाकरीति मुण्डकोपनिषद (3/1/1)
23 श्रीमद्भगवद्गीता शांकरभाष्य, अध्याय 4, श्लोक 12
24 श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य, द्वादशोऽध्यायः पृ. सं. 296 श्लोक 20
25 श्रीमद्भगवद्गीता शांकर भाष्य द्वादशोऽध्यायः पृ. सं. 295
26 वही पृ. सं. 289 श्लोक 7 17 ––295
27 श्रीमद् भगवद् गीता शांकर भाष्य द्वादशोऽध्यायः पृ. सं. 289, श्लोक 8